स्थविर वादी बौद्ध – साधना

प्रो. पी. जी. योगी,

भारतीय जीवन में साधना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि मोक्ष ही उनके जीवन का एवं दर्शन का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष की प्राप्ति साधना के बिना दुस्प्राप्य है। अतः सभी भारतीय दर्शनों की अपनी–अपनी साधना पद्धतियाँ हैं। बौद्ध धारा मोटे रुप में स्थविरनय, पारमितानय एवं मन्त्रनय इस प्रकार त्रिविध साध ाना मार्ग है। हम यहां स्थविरनय के अनुसार साधना विधि का निरुपण करेंगे। इस नस में साधना का विपुल बाड मय है तथा नानाविधि आवार्य–परम्परायें हैं।

बौद्धधर्म के अनुसार जाति, जरा, मरण आदि विविध सांसारिक दुखों से निवृत होकर निर्वाण की प्राप्ति के लिए–साधना की जाती है। सभी सत्य जाति, जरा, मरण आदि दुःखों से रहित होकर सर्वदा सुख पूर्वक रहना चाहते हैं, किन्तु चाहते हुए भी वैसे नहीं रह पाते। इन दुःखों से उनका समागम अवश्य होता है तथा नाना प्रकार के कायिक एवं मानसिक दुःखों से भी उनका पुनः पुनः समागम होता है। किसी दुःख से पीड़ित हो मर जाने पर भी भवका 'जीवन' का उच्छेद नहीं होता और उनहें भव के प्रति आसक्त भवनिका निताका तृष्णा के कारण पुनः प्रतिसन्धि 'जन्म' लेनी पड़ती है। उस नये नये भव में भी जाति जरा, मरण आदि दुःखों से समागम होता है। इस प्रकार प्राणी 'सत्वा' पुनः पुः नये–नये भव में उत्पन्न होकर निरन्तर दुःखों से अभिभूत होते तहते हैं। यहाँ नये नये भव में उत्पादन ही जरा, मरण आदि दुःखों का कारण कहा गया है। अतः जरा, मरण आदि दुखों से नियुक्ति के लिये पुनर्भव के प्रहाब का प्रयत्न करना चाहिये। वह पुनर्भव भी प्रत्युत्पन्न भव के प्रति आसक्त "भवनि कान्तिका" तृष्णा के कारण होता है। यदि यह तृष्णा न होगी तो पुनर्भव न होगा। अतः पुनर्भव न होने के लिए भवनिक्तन्तिका" तृष्णा के समुच्छेद का प्रयत्न करना चाहिए।

वह तृष्णा भी भव से सम्बद्ध नामरूप धर्मों से उत्तम निर्वाण को न देखना–इस विविध अज्ञानता के कारण उत्पन्न होती है। अतः यदि इस भवनिका न्तिका तृष्णा से निवृति अभिष्ट हो तो भव से सम्बद्ध नामरूप धर्मों के दोषों को देखकर निर्वाण का

साक्षात्कार करना होगा।

उपर्युक्त प्रकार से देखना साक्षात्कार साधना के बिना नहीं हो सकता अतः दुःखों से निवृत्त होकर निर्वाण की प्राप्ति के लिये साधना करनी चाहिए ।

स्थविरवादी बौद्धों के पालि साहित्य में साधना को कम्मट्ठान "कर्मस्थान" शब्द से कहा गया है ।

द्विविध कर्मस्थानः–

वह कर्मस्थान द्विविध है यथाः– समय कर्म एवं विपस्थना कर्म–स्थान ।

इनमें से शमथ की भावना करने से चाररुपावचर ध्यान एवं चारअरुपावचर ध्यान नामक आठ लौकिक ध्यान सभापत्तियां प्राप्त की जा सकती हैं । इन ध्यानों की भावना से अभिज्ञा नामक लौकिक ज्ञान विशेष भी प्राप्ति किया जा सकता है । लौकिक ज्ञान विशेष प्रकार हैः–

१. ऋद्विविध अभिज्ञा
२. दिव्य श्रोत अभिज्ञा
३. चेतःपर्याय–अभिज्ञा
४. पूर्व निवास–अभिज्ञा
५. दिव्य चक्षुष–अभिज्ञा

इस ध्यान एवं अभिज्ञाओं से सम्पन्न होने मात्र से जरा, मरण दुःखों से निवृत्ति नहीं होती । इन ध्यानों से सम्पन्न होकर मरने पर प्राप्त ध्यानों के अनुरूप ब्रहम्नभियों में प्रतिसन्धि (जन्म) लेनी पड़ती है तथा अयुक्षय होने पर उन भूमियों से भी च्युत होकर मनुष्य एवं देवभूमियों में प्रतिसन्धि लेनी पड़ती है । यहां अन्य मनुष्यों की तरह जरा मरण आदि दुःखों से समागम भी अनिवार्य होता है । कहीं दुर्भाग्य से अकुशल कर्म कर लिये तो निरय, प्रेत आदि अपाय भूमियों में उत्पन्न होकर आपायिक दुःखों को भोगना पड़ता है । अतः केवल शमथ भावना से दुःखों की निवृति नहीं हो सकती।

द्विविध विपस्यना

विपस्यना भावना से ही जरा मरण आदि दुःखों से निवृत होकर निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है । इस विपस्यना भावना के भी समथ को पादक (आधार) करके

भावना करना तथा शमथ को पादक न करके भावना करना ये दो प्रकार होते हैं।

इनमें से समथ को पादक आधार करके भावना करने वाला योगी शमथयानिक तथा शमथ को पादक न कर केवल विपस्थना की ही भावना करने वाला "शुद्ध विपस्थनायानिक" कहलाता है । इनमें से शमथयानिक नियम के अनुसार भावना करने के अभिलाषी योगी को सर्व प्रथम 'शमथकर्मस्थान" कम्मट्ठान की भावना करनी चाहिए । ये शमथ कमस्थान ४०. प्रकार के होते हैं तथा १० कसिण ।कात्स्र्य। १०. अशुभ, १०. अनुस्दतियां, ४. ब्रह्मविहार, ४. आरुण्य, १. आहारे प्रतिकूल संज्ञा तथा १. वतुर्धातुव्यवस्थान ।

क– १०. कासिया ये हैं यथा–पृथवी, अप, तेजस, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक एवं आकाश ।

ख– १०. अशुभ यह है यथाः– उद्ध्मातक (फूले हुए शव), विनीलक श्वेत, रक्त आदि वर्णों से मिश्रित नील वर्णवाला मृतशरीर, विपूयक पीब बहते हुए मृत शरीर (विच्छेद्रक) कटने से दो भागों में विभक्तक्षव, विश्वादितक कुत्ते, श्रृंगाल आदि द्वारा खाये गये मृत शरीर (विक्षिप्तक) इधर उधर फेके गये विविध आकार वाले मृत शरीर (क्षतविक्षिप्तक) बहते हुए रक्त से क्लिन्न (सने हुए) मृत शरीर (पुलुबक) कृमियों से परिपूर्ण मृत शरीर । अस्थिक (कुत्सित अस्थि) ।

ग– अनुस्मृतियां ये हैं, यथा :– बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संधानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, वेदनानुस्मृति, उपशभनुस्मृति, मरणनुस्मृति, कायगतास्मृति एवं आनापान (प्राणायान) स्मृति ।

घ– ४. ब्रह्म विहार ये हैं, यथाः– मैत्री, करुणा, मृदिता एवं उपेक्षा ।

ड– ४. आख्यायें हैं, यथाः– आकाश नन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्या यतन, आकिंचन्यायतन एवं नैसवंज्ञानासंज्ञायतन ।

शमथ भावना विधि

उपर्युक्त ४० कर्मस्थानों में से कम्भट्ठानों पृथ्वी कात्स्न्र्य की भावना करने के अभिलाषी योगी को प्राकृत (स्वाभाविक) पृथ्वीतलया विशेष रूप से निर्मित पृथ्वी

कात्स्न्र्य मण्डल को चक्षुष से देखकर पृथ्वी इस प्रकार कहते हुए पुनः पुनः भावना करनी चाहिए । इस प्रकार पुनः पुनः भावना करने से वह पृथ्वी निर्मित्त आंख बन्द रखने पर भी आंख खोलकर देखने की तरह प्रतिभाषित होने लगता है । इस प्रकार प्रतिभाषित आलम्बन को "उद्ग्रहनिमित्त" कहते हैं। इस प्रकार प्रति उद्ग्रह निमित्त के प्रतिभासित होने पर इष्ट प्रदेश में जाकर बैठते हुए, खड़े हुए, लेटते हुए एवं आते–जाते हुए उस उद्ग्रह निभित्तका पृथ्वी, पृथ्वी कहते हुए चित्त द्वारा निरन्तर आलम्बन बनाना चाहिए।

इस प्रकार आलम्बन करते समय चित्त कभी–कभी अन्यत्र आसक्त हो जाता है। अर्थात अपने अन्य इष्ट आलम्बन का चिन्तन "का मच्छन्दनीवरण" कहलाता है। कभी कभी चित्त कोधाविष्ट होकर चिन्तन करता है। इसे व्यापाद निवारण कहते हैं। कभी कभी वह उत्साह हीन होकर आलस्य से युक्त हो जाता है, स्त्यानभिद्व निवारण कहते हैं। कभी कभी वह उद्वता (अनवस्थित) हो जाता है। तथ कृत अकुशल कर्मों का स्मरण कर पश्चाताप करने लगता है। इसे "औद्धत्यकौकृत्य निवारण" कहते हैं। कभी कभी वह अनुष्ठीयमान भावना कर्म के प्रति संशयालु हो जाता है, इसे चिकित्सा–निवारण कहते हैं। इन निवारणें के उत्पन्न होने पर इनसे ध्यान हटाकर मूलकासिण कात्स्र्ल्य के प्रति ही ध्यान आकृष्ट होकर पृथ्वी, पृथ्वी कहते हुए भावना करनी चाहिए। यदि दुर्भाग्यवश कसिणमण्डल लुप्त हो उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए पुनः उद्ग्रह निर्मित्त प्रतिभासित हो जाने पर इष्ट प्रदेश में आकर पूर्वकथित नियम के अनुसार निन्तर भावना करनी चाहिए।

इस विधि से पुनः पुनः भावना करने पर वह कसिणमण्डल मन में अत्यन्त स्वच्छ प्रतिभाषित हो जाता है, इस अवस्था को प्रतिभाव निर्मित्त" कहते हैं। इस समय चित्त भी कामच्छन्द आदि निवारणों से रहित होता है और उस प्रतिभाग निमित्त में ही निरन्तर एकाग्र एवं शान्त होकर संलग्न रहता है। इस तरह की एकाग्रता की प्राप्ति "उपचार समाधि" कहलाती है।

इस उपचार समाधि द्वारा प्रतिभागनिर्मित्त की निरन्तर भावना करने वाला योगी का चित्त जब आलम्बन "प्रतिभागनिमित्त" में प्रविष्ट की तरह एकाग्र होकर एकदम स्थिर हो जाता है, तब इसे ही "अर्पणा समाधि" कहते हैं।

यह अर्पणाध्यान प्रथमध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान एवं चतुर्थध्यान इस

प्रकार चतुविध होता है। इनमें से सर्व प्रथम प्राप्त प्रथमध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रतानामक (पाँच) ध्यानाग्न होते हैं।

प्रथम ध्यान को प्राप्त योगी उसमें होने वाले वितर्क एवं विचार ध्याानांगों में दोष देखकर उनका अतिक्रमण प्रतिवेध करता है उससे द्वितीय ध्यान को प्राप्त होता है। इस (द्वितीय ध्यान) में प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नाम ३ (तीन) ध्यानांग होते हैं। पुनः प्रीति में भी दोष देखकर भावना करने से उसका अतिक्रमण करते तृतीय ध्यान को प्राप्त होता है। इसमें सुख एवं एकाग्रता दो ध्यानांग ही होते हैं। तद्नन्तर सुख में भी दोष देखकर भावना करने से तृतीय ध्यान का अतिक्रमणकर चतुर्थध्यान को प्राप्त होता है इसमें उपेक्षा एवं एकाग्रता– ये ध्यानांग होते हैं।

यह पृथ्वी कसिण में भावना करने की विधि एवं चार ध्यान सभापत्तियों की उत्पत्ति का क्रम है। इसी प्रकार ६ (नवा) कसिणों में भी भावना करनी पड़ती है। अशुभ कर्मस्थान की भावना करने के अभिलाषी योगी को फूले हुए मृत शरीर को आँख से देखकर उद्वभातक, कहते हुए पुनः पुनः भावना करनी चाहिए। शेष बातें पृथ्वी कसिण की भाँति ही जाननी चाहिए । विशेषता इतनी है कि अशुभ कर्मस्थान में प्रथमध्यान ही प्राप्त किया जा सकता है।

१०. अनुस्मृतियों में से कायमतास्मृति कर्मस्थन में भी प्रथमध्यान की ही प्राप्ति की जा सकती है। बुद्धाबुस्मृति से लेकर मरणनुस्मृति पर्यन्त ८ अनुस्मृति, आहारे प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातु व्यवस्थान – इन १० कर्मस्थानों द्वारा उपचार समाधि मात्र प्राप्त की जा सकती है। मैत्री, करुणा एवं मुदिता द्वारा नीचे के तीन ध्यान ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इनकी भावना द्वारा तृतीय ध्यान प्राप्त पुद्गल यदि उपेक्षा की भावना करता है तो चतुर्थ ध्यान भी प्राप्त कर सकता है।

कसिणों द्वारा चारों ध्यानों को प्राप्त योगी आरुच्य कर्मस्थानों की भावना करने से क्रमशः ४ (चार) अरुच्यध्यानों को प्राप्त कर सकता है।

आनापान स्मृति भावना

आनापान स्मृति कर्मस्थान की भावना करने के अभिलाषी योगी को भावना करने के लिए आश्वास–प्राश्वास के उपलब्ध न होने से योगी उन्हें खोजने भी लगता है। क्या हुआ कैसे हुआ ऐसा विचार भी करने लगता है। कभी कभी भावना न कर

योगी रुक जाता है किन्तु इस प्रकार भावना क्रम को रोकना नहीं चाहिए, अपितु नासापुट में ध्यान लगाकर निरन्तर भावना करना चाहिए। इस तरह ध्यान करते रहने से सूक्ष्मतम आश्वास–प्रश्वास की निरन्तर भावना करने से उसके विशेष आकारों का ज्ञान हो जाता है। इस विशेष आकारों के सम्बन्ध में बुद्धघोचार्यकृत विसुद्विमग्ग में इस प्रकार कहा गया है:–

यह आश्वास–प्रश्वास किसी को तारिका प्रभा के समान मणिमुलिका के समय, मुक्तामुलिका के समान, किसी को कर्कशस्पर्शवाला होकर कार्पासवीज के समान, लकड़ी के हीर से बनाई हुई सुई के समान, किसी को लम्बे पासंग के धागे के समान, पुष्पमाला के समान, पद्मफूल से समान, रथचक्र के समान, चन्द्रमण्डल के समान और सूर्य मण्डल के समान प्रतिभासित होता है। इस प्रकार एक दूसरे से भिन्न भिन्न प्रतिमास संज्ञानात्व से ही होता है।

इस प्रकार विशेष रूप से प्रतिभासित आलम्बन को "प्रतिभागनिमित्त" कहते हैं। उस प्रतिभाग निमित्त के प्रतिभास काल से भावना समाधि कहलाती है। काल से भावना समाधि भी उपचार समाधि कहलाती है। इस उपचार समाधि द्वारा निरन्तर भावना करते रहने से अतिशीघ्र उपर्युक्त ४ (चार) अर्पणध्यान समाधि प्राप्ति हो सकती है। यह श्मथयानिक मार्ग से भावना करने के अभिलाषी योगी के लिए सर्वप्रथम शमथभावना करने की संक्षिप्त विधि कही गई है।

विपश्यनाभावना विधि

विपस्यना भावना को करने के इच्छुक योगी को सत्वों की सन्तान में नाम एवं रूप नामक दो धर्म होते है, वे नाम–रूप धर्म सम्बद्ध कारणों से उत्पन्न होते हैं, सभी उत्पाद समानन्तर निरुद्ध होते हैं अतः वे अनित्य, अनात्म एवं दुःख स्वभाव वाले होते हैं– इस प्रकार के संक्षिप्त या विस्तृत ऋत ज्ञान से सम्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार के श्रुत ज्ञान से सम्पन्न योगी को सर्वप्रथम पूर्वकथित (शमथ) विधि से प्राप्त ध्यान का समावर्जन करके उसकी विपस्थना करनी चाहिए। तद्नन्तर छह द्वारों में प्रादुर्भुत दर्शन, श्रवण स्पर्शन, विजानन आदि व्यापार जैसे जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे वैसे उनकी निरन्तर भावना करनी चाहिए। इस प्रकार बार बार भावना करने से जब काया एवं मन थक जाते हैं तब पुनः अपने अभ्यस्त ध्यान का समावर्जन करना चाहिए। अधिनिष्ठित (१५ मिनट या आधा घंटा) समय पूर्ण होने पर ध्यान से उठने के काल में सर्वप्रथम अधिष्ठित ध्यान की भावना करके तदनन्तर छह द्वारों में प्रवृत

धर्मों की पूर्वेक्त नय से निरन्तर भावना करनी चाहिए। जब काया एवं चित्त थक जाए तब पूर्वेक्त नय से ध्यान का समावर्जन तथा ध्यान से उठते समय छह द्वारों में आविर्भूत धर्मों की भावना करनी चाहिए। इस तरह निरन्तर अभ्यास करने से जब विपस्यना समाधि प्रबल हो जाती है तब काया एवं चित्त में थकावट नहीं आती और योगी दिन रात निरन्तर भावना करने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार अभ्यास हो जाने पर जब जब भावना की जाती है तब योगी नाम एवं रूप के एक साथ उत्पाद को स्पष्ट या जानता है। कार्य कारण सम्बन्ध (कारण से कार्य उत्पन्न होते हुए) को जानता है। इस प्रकार भावना के प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाले आवलम्बन एवं उसके जानने वाले चित्त के नाश को देखकर उन दोनों की अनित्यता को जानने लगेगा। ये धर्म अनुराग करने योग्य या आश्रय बनाने योग्य न होने से केवल दुःख मात्र है ऐसा ज्ञान भी उत्पन्न होगा। आत्मा अथवा जीव नामक कोई पृथक पदार्थ नहीं है, अपितु सभी धर्म उत्पन्न होकर नाम होने के स्वभाव वाले ही हैं इस प्रकार का अनात्म ज्ञान भी होगा। इस प्रकार के अनित्य दुःख एवं अनात्म ज्ञान के अत्यन्त परिपक्व होने पर मार्गज्ञान और "फलज्ञान" उत्पन्न होता है और निर्वाण का साक्षात् (विभूततया) दर्शन होता है। यहाँ तक समथयानिक मार्ग द्वारा निवार्ण प्राप्त करने के लिए भावना करने की विधि का संक्षिप्त नियम कहा गया है।

शुद्ध विपस्यना भावना विधि

उपर्युक्तनय के अनुसार नाम, रूप, धर्म के अनित्य दुःख एवं अनात्म स्वभाव को जानने वाला योगी यदि शमथ भावना न कर केवल विपस्यना मात्र को ही आरम्भ करना चाहता है तो उसे एकान्त में पालथी मार करके बैठकर या अनुकूल आसन से बैठकर स्व शरीर में ही विभूततया उत्पन्न होने वाले पाँच उपादानस्कन्ध नाम रूप, धर्मों की, वे जब–जब उत्पन्न होते हैं, तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिए।

दर्शनक्षण, श्रवणक्षण, ध्यानक्षण, आस्वादनक्षण, स्पर्शनक्षण और विजानन (ज्ञान) क्षण इन छह क्षणों में विपस्यना द्वारा विभूत तथा ज्ञान धर्मो के उपादान स्कन्ध कहते हैं।

दर्शनक्षण की विपस्यना करते समय दो प्रकार के धर्म स्पष्टतया ज्ञात होते हैं– रूप स्कन्ध और बामस्कन्ध। दर्शनक्षण में ज्ञानवर्ण (नील–पीत आदि) और रघुरिन्द्रिय–ये दोनों रूप स्कन्ध मात्र हैं। जो लोग इस रूप धर्मों के उत्पाद, स्थिति, भंग, क्षणों को पृथक पृथक देख (विपस्याकर) सकने में असमर्थ है, वे इन (रूप धर्मों)

के प्रतिक्षण विनाश को न देख सकने के कारण ये अनित्य है– ऐसा नहीं जान पाते। प्रतिक्षण विनष्ट होने के कारण ये दुख है– ऐसा भी नहीं जान पाते तथा ये स्वभावमात्र है। इनमें आत्मा नहीं है, अर्थात ये अनात्म है– ऐसा भी नहीं जान पाते। इसलिए दृष्ट रूप (वर्ण) और चक्षु के प्रति आश्वादबान (तृष्णवान) होकर उनका उपादान करते हैं। आस्वाद रखने वाला शाश्वत आत्मा या जीव है – ये इस प्रकार भी उपादान करते हैं। इस प्रकार उपादान किये जाने के कारण इन वर्ण (रूप) और चक्षु आदि रूपों को हेतु उपादान स्कन्ध कहते हैं।

इस प्रकार उस वर्ण (रूप) आवम्बन को जानते हुए उत्पन्न चक्षु विज्ञान, अनुभव करने वाली वेदना, संज्ञान करने वाली संज्ञा और प्रेरित करने वाला संस्कार –इन नामधर्मो को इनको उत्पाद क्षण में ही योगी विपस्यना द्वारा स्पष्टतया देखता है तथा इनके अंग को भी देखता है। वह जानता है कि ये नाम धर्म मात्र हैं, ये आत्मा नहीं है तथा ये तृष्णा करने योग्य आस्वादनीय धर्म भी नहीं है। किन्तु जो पुद्गल इनके उत्पादक्षण को विपस्यना द्वारा जानने में असमर्थ है, वे इन्हें अनित्य दुःख एवं अनात्म नहीं जान पाते। फलतः वे मैं देखता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ, मैं संज्ञान करता हूँ, मैं प्रयत्न पूर्वक देखता हूँ:– इस प्रकार इन नाम धर्मो के प्रति तृष्णावान होकर इनमें आत्मा का उपादान करते हैं। इस प्रकार तृष्णा (आस्वाद) पूर्वक उपादान किये जाने के कारण ये धर्म उपादान विज्ञान स्कन्ध, उपादान वेदनास्कन्ध, उपादान संज्ञा–स्कन्ध एवं उपादान संस्कार स्कन्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार यह चक्षु द्वारा वर्ण (रूप) को देखते समय नामरूप धर्मात्मक पाँच उपादान स्कन्धों का आविर्भूत होता है। इस प्रकार श्रोत द्वारा शब्द सुनने के क्षण में, घ्राण द्वारा गन्ध ग्रहण करने के क्षण में, जिह्वा द्वारा रस ग्रहण करने के क्षण में, कार्य द्वारा स्पर्श करने के क्षण में, तथा मन द्वारा आलम्बन के स्वभाव का मनन करने के क्षण में, नामरूपात्मक पाँच उपादान स्कन्धों की उत्पत्ति को भी जानना चाहिए। इस प्रकार यह चक्षु द्वारा वर्ण (रूप) को देखते समय नामरूप धर्मात्मक पाँच उपादान एकन्धों का अभिर्भूत होता है। इस प्रकार श्रोत द्वारा शब्द सुनने के क्षण में घ्राण द्वारा गन्ध ग्रहण करने के क्षण में, जिह्वा द्वारा रस ग्रहण करने के क्षण में, काय द्वारा स्पर्श करने के क्षण में तथा मन द्वारा आलम्बन के स्वभाव का मनन करने के क्षण में नाम रूपात्मक पाँच उपादान एकन्धों की उत्पत्ति को भी जानना चाहिए।

इस प्रकार छह क्षणों में एवं छह स्थानों में (आश्रयों) में नामरूप धर्मो के

स्पष्टतया उत्पन्न होते रहने पर भी प्रारम्भिक योगी के लिए इनकी यथा विधि विपस्यना करना दुष्कर है। धर्मों के अनित्य आदि आकार को स्पष्टतः देखना ही विपस्यना है। अतः यहाँ प्रारम्भिक योगी की सुविधा के लिए विपस्यना आरम्भ करने की विधि का संक्षेप से प्रतिपादन किया जा रहा है एकान्त में पालथी मारकर या सुविधाजनक आसन में बैठकर शरीर के ऊपरी भाग को ऋजु (सीधा) करके चित्त को सर्व प्रथम नासापुट पर केन्द्रित करना चाहिए। इससे नासापुट के साथ घर्षण करके प्रविष्ट एवं निर्गत होने वाले आश्वास–प्रश्वास वायु का ज्ञान हो जाता है। तद्न्तर वायु के घर्षण स्थान में ध्यान लगाकर प्रविष्ट होता है निर्गत होता है इस प्रकार निरन्तर भावना करनी चाहिए। उदर में चले जाने वाले आश्वास एवं नासापुट से बाहर चले जाने वाले प्रश्वास का ध्यान नहीं करना चाहिए, अपितु नासापुटवर्तीघर्षण स्थान में ध्यान लगाकर भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार भावना करते समय चित्त को हटाकर आश्वास–प्रश्वास में ही केन्द्रित करना चाहिए। अर्थात यह श्वास है, यह प्रश्वास है– इस प्रकार भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार अश्वास–प्रश्वास के घर्षण स्थान पर ध्यान लगाकर भावना करने से लम्बे आश्वास–प्रवास करने पर लम्बा अश्वास कर रहा हूँ। लम्बा प्रश्वास कर रहा हूँ– ऐसा ज्ञान होता है। योगी नासापुट के साथ घर्षण करने वाले आश्वास–प्रश्वास के आदि मध्य एवं अन्त को भी जानता है। वह आश्वास–प्रश्वास की सूक्ष्म सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम् अवस्थाओं को भी जानता है। अन्त में अत्यन्त स्थुल हो जाने से आश्वास–प्रश्वास एकदम न होने की भाँति प्रतीत होता है। उस नाम एवं रूप धर्मों में अधिक विभूत (स्थूल) है, अतः विभूत रूप से विपस्यना आरम्भ करना चाहिए। रूपों में भी दृष्ट, श्रुत आदि उपादाय रूपों से स्पष्टव्य भूतरूप अधिक स्पष्ट होते हैं, अतः शरीरस्थ स्पष्टता रूपों से विपस्यना आरम्भ करना अधिक श्रेयस्कर है।

अतिविभूत स्पष्टव्य रूपों की भावना करने के लिए बैठे हुए सम्पूर्ण शरीर की स्मृति और सम्प्रजन्य पूर्वक बैठा है, इस प्रकार निरन्तर विपस्यना करना चाहिए। इस प्रकार विपस्यना करते समय नितम्ब प्रदेश में या पाद (पैर) प्रदेश में या किसी अन्य अंग विशेष में स्पष्टव्य का अनुभ्व होगा। इस समय स्पष्टव्य के साथ बैठा है स्पर्श होता है– इस प्रकार बैठे हुए शरीर और स्पष्टव्य स्थान की निरन्तर विपस्यना करनी चाहिए। यदि उपर्युक्त प्रकार की विपस्यना करने में कठिनाई का अनुभ्व हो

तो, श्वास प्रश्वास के संषर्ष स्थल में ध्यान लगाकर स्पर्श होता है--स्पर्श होता-- इस प्रकार भावना करना चाहिए। अथवा श्वास प्रश्वास लेते समय उदर प्रदेश के उतार--चढ़ाव के रूप में होने वाले स्पष्टव्य की ध्यान पूर्वक विपस्यना करनी चाहिए। यदि चित्त को स्मृति पूर्वक उदर प्रदेश में लगाया जायेगा तो उतार चढ़ाव के रूप में उत्पन्न होने वाले स्पष्टव्य रूप स्पष्टतया ज्ञात होंगे। ध्यान लगाने मात्र से वे ज्ञान न हो सके तो हाथ से स्पर्श करके उसका ज्ञान करना चाहिए। अपितु स्वभाविक रूप से आश्वास प्रश्वास होने देना चाहिए। श्वास लेते समय जब पेट ऊपर उठता है, तथा श्वास छोड़ते समय जब नीचे की ओर आता है तब गिरता है इस प्रकार भावना करनी चाहिए। पेट के इस उतार चढ़ाव के आदि, मध्य और अन्त की भी ध्यान पूर्वक निरन्तर भावना करनी चाहिए। भावना करते समय मुख से उच्चारण नहीं करना चाहिए, अपितु मन ही मन भावना करनी चाहिए। उतार चढ़ाव की भावना करते समय चित्त की भावना करनी चाहिए। यथाः-- जब आलम्बन अन्य आलम्बन में चला जाता है तो इस प्रकार भावना करना चाहिए। यदि वह चित्त चिन्तन करने लगता है तो चिन्तन करता है, प्रीति का उत्पाद होता है, तो प्रीत होती है, कोध का उत्पाद होता है तो कोध उत्पन्न होता है, आसक्ति होती है तो, आसक्ति होती है, निराशा होती है तो निराशा होती है, आलस्य उत्पन्न होता है, तो आलस्य होता है इस प्रकार अन्यत्र आसक्त चित्त के विलुप्त हो जाने तक भावना करनी चाहिए। जब विलुप्त हो जाए तब पुनः पेट के उतार--चढ़ाव को ध्यान पूर्वक भावना करनी चाहिए।

शरीर में थकान पीड़ा आदि दुःख वेदनायें उत्पन्न होने लगे तो उन वेदनाओं की ओर ध्यान लगाकर थकान होती है, पीड़ा होती है, गर्मी होती है, इत्यादि प्रकार से वेदनाओं के अनुसार तदनुरूप भावना करनी चाहिए और तब तक भावना करनी चाहिए जब तक थकान आदि वेदनायें शान्त न हो जाएं। जब शान्त हो जाए तो पुनः पेट के उतार चढ़ाव की भावना करनी चाहिए। यदि थकान आदि पीड़ायें असह्य हो जाए तो शरीर की स्थिति में परिवर्तन कर देना चाहिए। परिवर्तन करते समय भी आंगिक चेष्टाओं की ध्यानपूर्वक भावना करनी चाहिए। जैसे-- हाथ उठाते समय "उठता" है, प्रसारण करते समय फैलता है, संकोच करते समय सिकुड़ता है-- हिलाते समय, हिलता है, रखते समय रखा जाता है, अंग विशेष का स्पर्श करते समय स्पर्श होता है-- इत्यादि प्रकार से सभी शारीरिक क्रियाओं की ध्यान पूर्वक भावना करनी चाहिए-- जब ये क्रियाएं समाप्त हो जाएं तो पुनः पेट के उतार--चढ़ाव की भावना करनी चाहिए।

किसी वस्तु को देखते समय देखता है, इच्छा न होते हुए भी यदि कोई वस्तु दिखाई पड़ जाए तो दिखलाई पड़ी इत्यादि भावना करनी चाहिए। इसी प्रकार सुनते समय सुन लिया, विचार करते समय विचारता है भावना करनी चाहिए। तद्नन्तर पुनः पेट के उतार चढ़ाव की भावना करनी चाहिए।

उठते समय, बैठते समय,खड़े होते समय, लेटते समय भी जैसे–जैसे क्रियायें होती हैं, वैसे वैसे भावना करनी चाहिए। चलते समय भी पैर की सभी कियाओं की ओर ध्यान लगाकर भावना करनी चाहिए। यथा पैर के उठते समय, उठता है, आगे बढ़ाते समय बढ़ाता है। रखते समय रखता है, स्पर्श होते समय स्पर्श होता है– आदि भावना करनी चाहिए। पेट के उतार चढ़ाव का कथन उपलक्षण मात्र है। किसी अन्य विभूत स्थल को लक्ष्य बनाकर भी भावना की जा सकती है। योगी जब अभ्यस्त हो जाता है तब वह अपने छहों द्वारों से होने वाली अनुभूतियों की स्मृति पूर्वक भावना करने में समर्थ हो जाता है।

विपस्यना समाधि ज्ञान की उत्पत्ति

उपर्युक्त नय के अनुसार प्रतिक्षण काय और मन की कियाओं की निरन्तर विपस्यना करने वाले योगी को प्रारम्भ से सभी कियाओं का ज्ञान होना असम्भव है। अर्थात् वह कभी कभी कुछ कियाओं की विपस्यना नहीं कर पाता तथा उसमें बीच बीच में अन्य आलम्बनों में चले जाने वाले निवारण चित्त भी होंगे। शमथ भावना में अन्यत्र मन चित्त की भावना आवश्यक नहीं है, केवल शमथ के आलम्बन की भावना ही करनी होती है। इस प्रकार के चित्तों की भावना करने के बाद ही उतार–चढ़ाव की भावना करनी होती है। इस प्रकार निवारण धर्मों का ग्रहण करना ही शमथ और विपस्यना भावना में भेदक है। शमथ भावना में किसी एक आलम्बन में चित्त स्थिर करने के लिए उस आलम्बन की ही निरन्तर भावना करनी पड़ती है। जो शमथ के आलम्बन नहीं होते ऐसे नाम रूप धर्मों की भावना आवश्यक नहीं होती फलतः जब कभी बीच में विकल्प करने वाले निवारण चित्त उत्पन्न होते हैं तब उनकी भावना न कर उन्हें हटाना ही आवश्यक होता है।

विपस्यना भावना में छहों द्वारों में उत्पन्न सभी नाम रूप धर्मों की भावना आवश्यक होने से जब कभी बीच में विचार, प्रीति इच्छा आदि करने वाले निवारण चित्त उत्पन्न होते हैं तो उनकी भी विपस्यना करनी होती है। यदि उनकी विपस्यना न की जाएगी तो नित्य सुख आत्मा आदि के उपादान का भय है। इस तरह

विपस्यना भावना में शमथ भावना की तरह निवारण चित्तों की उपेक्षा, विस्मृति या अमनस्कार करने से कृत्य सम्पन्न नहीं होता, अपितु इन चित्तों की भी स्वलक्षण सामान्य लक्षणों द्वारा यथाभूत ज्ञान करने से उपादान रहित विपस्यना कृत्य सम्पन्न होता है।

इस प्रकार की भावना करने में अभ्यस्त योगी के चित्त अन्य आलम्बनों में विक्षिप्त नहीं होते। उसकी चित्त सन्तति शान्त रहती है कभी कभी चित्त के अन्यत्र आने पर तत्काल विपस्यना कर उन्हें निरुद्ध कर दिया जाता है। कभी अन्यत्र आने वाले चित्त को पहले से ही जानकर उसकी विपस्यना कर उसे शान्त कर दिया जाता है। इस अवस्था में योगी अपने छह द्वारों में होने वाले आलम्बनों की ही प्रत्येक क्षण में विपस्यना करता है। उन आलम्बनों को स्थिर होने वाली समाधि को पिवस्यनाक्षणिक समाधि कहते हैं। यह कामच्छन्द आदि निवारण कर्मों से रहित होने के कारण शमथ यान में कथित "उपाचार समाधि" सदृश होती है। निवारण धर्मों से असम्मिश्रित होने के कारण पूर्वाचर विसुद्ध विपस्यना भावना चित्त "चित्त विशुद्धि" भी कहलाता है।

विपस्यना करते करते योगी जिसकी विपस्यना की जा रही है, उस उतार–चढ़ाव आदि रूप को नाम एवं अन्य रूप धर्मों को पृथक परिच्छेद करके जानने लगता है। प्रत्येक बार विपस्यना करते समय वह शरीर के रूप एवं चित्तों को पृथक परिच्छेद करके जानता है। इस प्रकार नाम और रूप कर्मों को पृथक परिच्छेद करके जानने वाला ज्ञान "नाम रूप परिच्छेद" कहलाता है।

जब नाम रूप परिच्छेद ज्ञान अभ्यस्त हो जाता है तब योगी शरीर के ये उतार–चढ़ाव आदि रूपधर्म है क्योंकि ये आलम्बन को जानते हैं। इस स्कन्ध (शरीर) में ये नाम और रूप धर्म ही होते हैं। विपस्यना करते समय इस प्रकार का परिज्ञान होना "दृष्टिविशुद्धि" कहलाता है।

तद्न्तर विपस्यना आदि जारी रहती है तो योगी विपस्यना के क्षण में कार्य कारण के रूप में नाम रूपों का उत्पाद भी जानने लगता है। जैसे– हस्त, पाद आदि के संकोच, प्रसार, कंपन आदि की इच्छा वाले चित्त के होने पर संकुचित, प्रसृत, कम्पित आदि रूपों का उत्पन्न होना तथा मुक्त आहार से नये नये रूपों का उत्पन्न होना आदि प्रत्यक्षतः जाने जा सकते हैं।

इसी तरह चक्षु और रूपों के होने पर चक्षु विज्ञान, श्रोत और शब्द के होने पर श्रोत विज्ञान आदि का उत्पन्न होना पेट के उतार–चढ़ाव रूप आलम्बन के होने पर विपस्यना चित्त का उत्पन्न होना एवं मनस्कार होने पर चित्त का आलम्बन तक पहुंचना आदि भी जाने जा सकते हैं।

अपितुः– धर्मों के प्रति शुभ और सुख प्रतिभास वाली अविध्या तथा शुभ और सुख के प्रति आसक्त तृष्णा होने पर संस्कार का उत्पन्न होना संस्कार का उपादान करके नये नये चित्तों का होना, इस भव के अन्तिम चित्त का निरोध मरण तथा आश्रय के साथ चित्त का उत्पाद भाव इत्यादि सुस्पष्टतया जाने जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यय (कारणों) के साथ जानना "प्रत्ययपरिग्रह ज्ञान" कहलाता है।

उपर्युक्त प्रकार से प्रत्युत्पन्न धर्मों की कार्य–कारण सम्बद्धता जान लेने पर पूर्व काल में भी इसी प्रकार कार्य कारणभूत नाम रूप उत्पन्न हुए थे तथा अनागत काल में भी इसी प्रकार कार्य कारण सम्बद्ध नामरूप उत्पन्न होंगे इत्यादि ज्ञान आसानी से हो जाता है। इस प्रकार का ज्ञान "कांड़क्षा–वितरण–विशुद्धि" कहलाता है। अर्थात नामरूप धर्मों के कार्य कारण ज्ञान के पहले नामरूप धर्मों को ही आत्मा समझकर क्या पहले भी आत्मा (मैं) था। क्या यह आत्मा मरने के अनन्तर भी होगा। इत्यादि प्रकार की शंकाये हो सकती थी। किन्तु इस ज्ञान के बाद उक्त प्रकार की शंकाओं के लिए अवसर नहीं है।

यदि निरन्तर भावना की जाती है तो भावना के आलम्बन भूत नाम रूप धर्मों के क्षण–क्षण में उत्पाद को देखकर ये अनित्य हैं, इस प्रकार का "अनित्य सम्मर्शन ज्ञान" उत्पन्न होता है। उनके उत्पाद और नाश को देखकर ये सुख नहीं है। इस प्रकार का दुःख सम्मर्शन ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा धर्मों का इस प्रकार उत्पन्न होना और विनष्ट होना स्वभाव है, इस प्रकिया पर किसी का वश नहीं है, अतः अन्तः सार होने से ये अनात्म है। इस प्रकार का "आत्मसम्मर्शन" उत्पन्न होता है।

इस प्रकार विपस्यना करते हुए योगी की सन्तान में सर्व प्रथम अवभास, प्रीति, प्रश्र विध, अधिक मोटा, प्रग्रह (वीर्य) सुख ज्ञान, उपस्थान, उपेक्षा और निकन्ति उत्पन्न होती है। इन धर्मों के उत्पाद के अवसर पर योगी को अपूर्व सुखनुभूति होती है। इससे सन्तुष्ट होकर और यह सोचकर कि मुझे विशेष धर्म की प्राप्ति हो गई है, विपस्यना करना छोड़ देता है तो वह लक्ष्य से परिभ्रष्ट हो जाता है। यह परिपक्वता उदय व्यय ज्ञान है और मिथ्या मार्ग है। ये आलोक (अवभास) आदि विशेष धर्म नहीं

है। उपस्थित आलम्बन की निरन्तर विपस्यना करना ही विशेष धर्म की प्राप्ति का मार्ग है। इस प्रकार ग्रन्थों से या मुख्य रूप देश से मार्ग और अमार्ग को जानकर विपस्यना करने के प्रति श्राद्धा और निश्चय करना "मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि" कहलाता है।

इस प्रकार मार्ग का निश्रय कर निरन्तर विपस्यना करते रहने से आलोक (अवभास) आदि उपक्लेश धीरे–धीरे विलुप्त हो जाते हैं। और विपस्यना ज्ञान भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसके बल से योगी हस्त पाद आदि के संकोच, विस्तार, कम्पन आदि के समय सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षण में होने वाले उनके उत्पान–निरोध को साक्षात् देखने लगता है। इस अवस्था का ज्ञान उपकलेशों से मुक्त "परिपक्व उदय व्यय ज्ञान" कहलाता है।

यह ज्ञान प्रबल होने पर अतिशीघ्र प्रवृत्त होता है फलतः आलम्बनों के उदय और व्यय इन दोनों क्षणों में से उस योगी को व्यय क्षण ही अधिक स्पष्ट होता है। उसे समस्त धर्म विनष्ट (निरुद्ध) होते हुए दिखाई देते हैं। विपस्यना के आलम्बन और विपस्यना चित्त भी निरुद्ध होते हुए प्रतिभासित होते हैं। इस तरह आलम्बन और चित्त के भंग का ज्ञान "भंग ज्ञान" कहलाता है। आलम्बनों और चित्तों का भंग ज्ञान होने से ये धर्म प्रद है– इस प्रकार का भय ज्ञान होता है ये धर्म सदोर्ष है इस प्रकार का अभिनव ज्ञान होता है। ये इष्ट एवं हितप्रद नहीं है। इस प्रकार का निर्वेद ज्ञान होता है। इस प्रकार के ये धर्म उपादेय नहीं है– इनसे मुक्त होना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार का ज्ञान "मौक्तुकाम्यता ज्ञान" कहलाता है।

इस अवस्था में मुक्त होने के लिए उत्साह पूर्वक विपस्यना करने से धर्मों के अनित्य, दुःख एवं अनात्म स्वभाव सुस्पष्ट हो जाते हैं। उनमें भी दुःख स्वभाव अत्यन्त सुस्पष्ट होता है। जब यह प्रति संख्या ज्ञान अभ्यस्त होकर प्रबल हो जाता है तो विपस्यना के लिए विशेष प्रयत्न न करने पर भी वह अपने आप प्रवृत होता रहता है। वह आलम्बन की अच्छाई या बुराई की ओर अभिमुख न होकर उपेक्षा भाव से केवल जानता रहता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। यह ज्ञान स्वयं अपनी क्षणिकता को जानते हुए घंटे दो घंटे या इससे अधिक समय तक स्थित रह सकता है। इतने पर भी किसी प्रकार की थकावट या कष्ट का भाव नहीं होता इस प्रकार के ज्ञान को "संस्कारोपेक्ष ज्ञान" कहते हैं। यह उत्तम कोटि का ज्ञान है व्युत्थान नाम मार्ग की ओर जाने में समर्थ होने से इसे "व्युत्थानमामिनी विपस्यना" भी कहते हैं।

उपर्युक्त परिक्त उदयव्यय **ज्ञान** से लेकर इस अनुलोम ज्ञान पर्यन्त ज्ञान "प्रतिपदा ज्ञान विशुद्धि" कहे जाते हैं– अनुलोम ज्ञान होने के अनन्तर जब यह विपस्यना चित्तनामरूपात्मक दुःखों के निरोध स्थान निर्वाण आलम्बन तक पहुंच जाता है। तब उसे "गोत्रम् ज्ञान" कहते हैं। इस अवस्था में पुद्गल पृथक जब गोत्र का उच्छेद कर आर्य गोत्र में प्रविष्ट होता है।

तदनन्तर उस निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले मार्ग एवं फलचिन्तन प्रवृत्त होते हैं। इनमें से मार्ग ज्ञान को ज्ञान दर्शन विशुद्धि कहते हैं। इन मार्ग एवं फल चिन्तों की प्रवृत्ति अतिशीघ्र घटित हो जाती है। अतः पूर्व दृष्ट निर्वाण मार्ग एवं फल का पुनः आवर्जन करने वाला "प्रत्यवेक्षण" ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस प्रकार प्रत्यवेक्षण पर्यन्त ज्ञान सम्पन्न पुद्गल स्रोतापन्न पुद्गल कहलाता है। यह पुद्गल सत्काय दृष्टि (नाम रूपम धर्मो में आत्मग्रह) विचिकित्सा बुद्ध, धर्म, संघ एवं मार्ग में संशय और शीलब्रत परामर्श अमार्ग को निर्वाण का मार्ग समझना नामक, तीन संयोजनों से विमुक्त होता है। इसके पाँचों शील खण्डित न होकर अपने आप सुरक्षित रहते हैं। यह चार अपाय भूमियों से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसका कामावचर भूमि में अधिक से अधिक सात बार जन्म होता है। इस बीच वह अर्हत होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

सोतापन्न पुद्गल आदि अपने द्वारा प्राप्त फल के समावर्जन के लिए विपस्यना करता है तो वह अनेकक्षण पर्यन्त प्राप्त फल समापत्ति में समापन्न रह सकता है। किन्तु एक सप्ताह से अधिक नहीं रह सकता। वह श्रोतापन्न पुद्गल आदि अप्राप्तमार्ग एवं फल की प्राप्ति के लिए अपने उपादान स्कन्धों की विपस्यना आरम्भ करता है तो उसमें सर्व प्रथम उपर्युक्त प्रकार से उदय व्यय आदि ९–ज्ञान उत्पन्न होते हैं, तदनन्तर इन्द्रियों के परिपक्व होने पर वह सकृदागामी मार्ग और फल द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार करके "सकृदागामी पुद्गल हो जाता है। उसमें स्थूल का मार्ग और व्यापाद का अपशम हो जाता है, अतः वह कामावचर भूमि में दो बार से अधिक उत्पन्न नहीं होता इस बीच वह अर्हत होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

वह सकृदागामी आदि अपने द्वारा प्राप्त फल के समावर्जन के लिए विपस्यना करता है, तो अनेक क्षण पर्यन्त प्राप्त फल सभापत्ति में समापन्न हो सकता है। यदि

वह ऊपर के मार्ग एवं फल की प्राप्ति के लिए विपस्यना करता है तो उपर्युक्त उदय व्यय आदि विपस्यना ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होकर अनागामी मार्ग एवं फल द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार करके "अनागामी पुद्गल" हो जाता है। उसके कामराग और व्यापाद अशेष उच्छिन्न हो जाते हैं अतः कामावचर भूमि में पुनः उत्पन्न न होकर रूप अरूप भूमियों में ही उत्पन्न होकर तथा वही अर्हत् होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। वह भी यदि अपने द्वारा प्राप्त फल के लिए विपस्यना करता है तो प्राप्त फल समाप्ति में समापन्न हो सकता है तथा यदि ऊपर के मार्ग और फल की प्राप्ति के लिए विपस्यना करता है तो उपर्युक्त नय के अनुसार क्रमशः विपस्यना ज्ञान होने के बाद अर्हत मार्ग एवं फल द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार करके "अर्हत् पुद्गल" हो जाता है।

अर्हत् पुद्गल में रूपराग, अरूपराग, मान औद्धत्य एवं अविध्या नामक अवशिष्ट पाँच अर्ध्वमागीय संयोजनों के साथ सभी कलेश सर्वथा ग्रहीण हो जाते हैं। फलतः अर्हत पुद्गल का पुनर्भव नहीं होता। इसी भव में आयु क्षय होने पर परिनिर्वाण भी होता है। पुनर्भव होने से जरा, मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त होता है। इसलिए जरा मरण आदि दुःखों से विमुक्ति चाहने वाले पुद्गलों को उपर्युक्त विधि से विपस्यना भावना करना चाहिए।

पटिप्पस्सद्धदरथं अभतारम्मणंतुभं।
बन्तलो कामिसं सन्तं सामन्नफलमुत्रमें।।
ओजवन्तेन सुधिना सुखेन अभिसन्दितं।'
येन सातातिसातेन अमतेन मधुं विय।।
तं सुखं तस्स अरिसस्स रसभूतभनुन्तरं।
फलस्स पन्चं भावेत्वा तस्मा विन्दतिपिझिडतो।।
तस्मारिय–फलस्सेतं रसानुभवनं इध।
विपस्सनाभावनाय अनिसंसोति वुच्चति।।

क्लेश पीड़ा की शान्ति, अमृत निर्वाण का आलम्बन, शुभ लोक के आमिष से रहित, शान्त उत्तम श्रावण्यफल, ओजवान पवित्र अमृत मधु के समान जिस अत्यन्त मधुर सुख से व्याप्त है, वह सुख उस आर्य का अनुत्तर रस हुआ है। चूंकि प्रज्ञा की भावना करके पण्डित उस सुख को प्राप्त करता है, इसलिए आर्य–फल के रस अनुभव यहां विपस्यना भावना का अनृशंस कहा जाता है।

(ए) – **अट्ठाइस प्रकार के रूपों का ग्यारह (११) प्रकार से संग्रह होता है, जो दो भागों में बंटे हुए हैं यथाः–**

(१) निस्पन्न रूप

१.	पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु, वायुधातु	=	४ भूत रूप
२.	चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय	=	५ प्रसाद रूप
३.	रूप, शब्द, गन्ध, रस	=	४ विषय या गोचर रूप
४.	स्त्री–इन्द्रिय (स्त्रीत्व) पुरूषेन्द्रिय (पुरूषत्व)	=	२ भाव रूप
५.	हृदयवस्तु	=	१ हृदय रूप
६.	जीवितेन्द्रिय	=	१ जीवित रूप
७.	कवलिकार आहार	=	१ आहार रूप
		=	**१८ निस्पन्न रूप**

(२) अनिस्पन्नरूप

८.	आकाशधातु	=	१ परिच्छेद रूप
९.	काय विज्ञप्ति, वचीविज्ञप्ति	=	२ विज्ञप्ति रूप
१०.	रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता	=	३ विकार रूप
११.	रूप का उपचाय, सन्तति, जरता, अनित्यता	=	४ लक्षण रूप
		=	**१० अनिस्पन्न रूप**

(बी) – **शैक्ष्य, अशैक्ष्य और पृथगजन की साधारण होती है, किन्तु असाधारण तो अशैक्ष्यों की होती है।**

विज्ञान विवरणः- स्कन्ध निर्देश

भूमि	कुशल	अकुशल	विपाक	किया	योग
कामावचर	८	१२	२३	११	५४
रूपावचर	५	–	५	५	१५
अरूपावचर	४	–	४	४	१२
लोकोत्तर	४	–	४	–	८
योगः-	**२१**	**१२**	**३६**	**२०**	**८६**

(सी) **आयतनधातु विज्ञान निर्देश – ८१ + ४० = १२१ विज्ञानः**

भूमि	कुशल	अकुशल	विपाक	किया	योग
कामावचर	८	१२	२३	११	५४
रूपावचर	५	–	५	५	१५
अरूपावचर	४	–	४	४	१४
योगः-	**१७**	**१२**	**३२**	**२०**	**८१**

(डी) – **अट्ठारह धातुऐं हैंः–**

१. चक्षु धातु
२. रूप धातु
३. चक्षु विज्ञान धातु
४. श्रोत विज्ञान धातु
५. शब्द धातु
६. श्रोत विज्ञान धातु
७. घ्राण धातु
८. गन्ध धातु
९. घ्राण विज्ञान धातु
१०. जिह्वा धातु
११. रस धातु
१२. जिह्वा विज्ञान धातु
१३. काय धातु
१४. स्पर्श धातु
१५. काय विज्ञान धातु
१६. मनो धातु
१७. धर्म धातु
१८. मनो विज्ञान धातु

लोकोत्तर विज्ञान

अंडग	मार्ग	फल	योग
स्त्रोतापत्ति	५	५	१०
सकृदागामी	५	५	१०
अनागामी	५	५	१०
अर्हत	५	५	१०
योगः-	**२०**	**२०**	**४०**

इति शुभमस्तु

सन्दर्भ ग्रन्थः

१. अभिध्म्मपिटक
२. अभिधम्मत्थसंगहो
३. विशुद्धिमग्ग
४. अभिधर्म कोश